

प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुरोधा मनीषि ऋषियों की अलौकिक प्रतिभा से प्रादुर्भूत हुए असंख्य सद्विचार वैदिक युगीन उस सुदूर अतीत से लेकर अद्यावधि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय जनमानस का सम्यग् मार्गदर्शन कर रहे हैं। ऐसे ही बहुमूल्य विचार रत्नों की श्रेणी में "तेजस्वीनावधीतमस्तु" सुविचार अन्यतम है। यह वाक्यांश "तैत्तिरीयोपनिषद्" से उद्धृत है जो भारतीय सनातन संस्कृति एवं उसकी समृद्ध ज्ञान विरासत का प्रतिनिधित्व करने वाले महनीय उपनिषद्ग्रन्थों में से एक है। इस पावन देश की इतिहासप्रसिद्ध गुरु-शिष्य परम्परा के गौरव को अभिव्यक्ति देता यह उपनिषद्सूत्र अपने लघु कलेवर में विशाल अर्थों को समेटे हुए है। शायद इसके इसी वैशिष्ट्य से अभिभूत हुए इस महाविद्यालय के संस्थापक सम्मान्य आचार्यों ने आज से पच्चीस वर्ष पूर्व इसे ध्येय वाक्य के रूप में प्रतिष्ठापित करने का अभिनन्द्य निर्णय लिया होगा। सन्धि विच्छेद करने पर इस आदर्श सूत्र का स्वरूप कुछ इस प्रकार का हो जाता है— "तेजस्वि=(तेजोमय एवं प्रखर), नौ=(हम दोनों गुरु शिष्य का), अवधीतम्=(अध्ययन-अध्यापन), अस्तु=(हो)", अर्थात् इसमें अखिल ब्रह्माण्ड का नियमन करने वाली नियामक सत्ता से यह प्रार्थना की गयी है कि शिक्षण संस्थाओं में होने वाला पठन-पाठन तेजोमय एवं प्रखर हो जिससे समाज को समुचित दिशा मिल सके। निश्चय ही उपरोक्त उपनिषदीय मंत्र के माध्यम से बड़ी उदात्त भावना को अभिव्यक्ति दी गयी है। किसी भी मानवीय समाज का समग्र विकास वहाँ के शिक्षण तंत्र पर आश्रित रहता है। शिक्षण संस्थाओं की चारदीवारियों के अन्दर अध्यापक और अध्येता के मध्य हुए संवादों की गुणवत्ता से ही समाज में दुष्प्रवृत्तियों के निराकरण और सद्वृत्तियों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होता है। महाभारतकालीन समाज का स्मरण करते ही मानस पटल पर सहजता से एक अराजक और भ्रष्ट मानवीय समाज की छवि अंकित हो जाती है और इतिहास इस बात का साक्षी है कि तत्कालीन समाज की दुर्दशा का निदान एवं निवारण सम्यग्ज्ञान रूपी दिव्यास्त्र से ही संभव हो सका था। महाभारत में वर्णित श्री कृष्ण और अर्जुन दो ऐसे पात्र हैं जिन्होंने भारतीय गुरु-शिष्य परम्परा को पराकाष्ठा तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अर्जुन वह आदर्श शिष्य है जिसमें समर्पण है, जो जिज्ञासु है और श्रेयस्कर मार्ग जिसका लक्ष्य है—"यच्छ्रेय स्यान्निश्चितम् ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्"। दूसरी ओर एक कुशल शिक्षक के रूप में वासुदेव अपने विवेच्य विषय को इतना अधिक रोचक और सुबोध बना देते हैं कि उनके शिष्य की जिज्ञासाएं सैलाब बन कर उमड़ पड़ती हैं। प्रश्न दर प्रश्न अर्जुन को उसकी अपेक्षित जिज्ञासाओं का समाधान मिलता जाता है, उसके संशय मिटते जाते हैं और उसे जो विवेक दृष्टि प्राप्त होती है उसमें सुख-दुःख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि तथा जय-पराजय जैसे व्यथित करने वाले द्वन्द्व गौण हो जाते हैं और उसे किंकर्तव्यविमूढता के स्थान पर केवल और केवल निर्मल कर्तव्य पथ ही दिखाई देता है। वस्तुतः इस अवस्था को प्राप्त करके ही ज्ञान उस स्तर तक पहुँच जाता है जहाँ वह व्यक्ति को असद् से सद्, अन्धकार से प्रकाश, प्रेय से श्रेय और सान्त से अनन्त की ओर अग्रसर करने की क्षमता पा लेता है। उपनिषद्कारों के उपर्युक्त मूल मंत्र में भी निश्चय ही ज्ञान का यह परिनिष्ठित रूप अन्तर्निहित है। उक्त विवेचन के आलोक में तात्पर्यरूपेण यही कहा जा सकता है कि एक शिक्षक का अध्यापन प्रखर एवं तेजयुक्त तभी होता है जब वह समाज की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप ज्ञान का सृजन करने तथा उसका सम्यग् वितरण करने में दक्ष हो। इसी प्रकार शिष्य का अध्ययन उसी समय प्रखरता पाता है जब वह अपने जीवन के सैद्धान्तिक पक्ष में गुरु के सान्निध्य में समर्पित भाव से ज्ञानार्जन करे और व्यवहारिक पक्ष में उपार्जित ज्ञान का समुचित उपयोग करे। यतः—"ज्ञानं भारः क्रियां बिना" अर्थात् उपयोग में लाये बिना ज्ञान भारस्वरूप होता है।

इन्हीं सदुद्देश्यों को अपना लक्ष्य बनाते हुए तथा उपनिषद् के ही "चरैवेति चरैवेति" उद्घोष से प्रेरित होकर यह महाविद्यालय अनवरत रूप से आगे बढ़ते हुए नई-नई ऊँचाइयों का स्पर्श करने के लिये उद्यत है।

